हिंदी

मुकुल प्रियदर्शिनी

विमर्श की भाषा बनाने की चुनौतियाँ

किसी भाषा का स्वरूप और चरित्र उसके प्रकार्य, संदर्भ और दायरे से निर्धारित होता है। पर इसे मूर्त रूप उसे प्रयोग करने वाले देते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भाषा की समृद्धि मूलत: विविध क्षेत्रों में उसके बरतने से जुड़ी होती है। यह बात हिंदी पर भी लागू होती है, हालाँकि इस संदर्भ में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को उनके बहुभाषी परिप्रेक्ष्य में और अंग्रेज़ी के बरअक्स देखा जाना ज़रूरी है। यद्यपि लोगों की भावनाओं और विचारों की भाषा के रूप में हिंदी की जीवंतता से इनकार नहीं किया जा सकता, पर हिंदी के विमर्शी स्वरूप के स्थापित होने और इस भूमिका में उसकी पहचान बन पाने का सफ़र अभी लम्बा है। जब तक कोई भाषा औपचारिक-अनौपचारिक हर क़िस्म के संदर्भ में बरती नहीं जाती और जब तक वह ज्ञान, साहित्य, प्रशासन, प्रौद्योगिकी आदि सभी सम्भव क्षेत्रों में माध्यम के रूप में अपना अस्तित्व स्थापित नहीं कर पाती— उसकी जीवंतता, विकास और प्रासंगिकता आंशिक ही रहेगी। इस लेख का उद्देश्य उन कारकों और चुनौतियों की पड़ताल व विश्लेषण करना है जो विभिन्न क्षेत्रों में विमर्शी हिंदी के विकास को प्रभावित करते हैं। विमर्श-जगत में हिंदी के मौजूदा अस्तित्व के इन कारकों का फ़लक बहुत बड़ा है जिसमें भौगोलिक, स्थानीय, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शिक्षा और अकादमिक जगत आदि के कई घटक शामिल हैं।

विविधता हर भाषा की स्वभावगत विशेषता है। कोई भाषा विविधता की दृष्टि से कितनी समृद्ध है— यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका इस्तेमाल कितने विविध संदर्भों में, कितने उद्देश्यों के लिए और कितनी रचनात्मकता के साथ हो रहा है। अलग-अलग संदर्भ और उद्देश्य अलग-अलग भाषा शैली और रूप की माँग करते हैं और किसी भी भाषा में यह क्षमता होती है कि वह अपने प्रयोक्ताओं की भाषाई आवश्यकताओं को पूरा कर सके। वस्तुत: किसी भाषा को मातृभाषा मानने वाले या उसे बरतने वाले उस भाषा का नये संदर्भों और नये उद्देश्यों के लिए भी इस्तेमाल करते हैं और इस प्रक्रिया में भाषा लगातार समृद्ध होती चलती है। दूसरे शब्दों में भाषा की समृद्धि बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके प्रयोग का दायरा कितना बड़ा है और उसके प्रयोग की गुणवत्ता कैसी है।

हिंदी का दायरा

हिंदी देश के सबसे बड़े भू-भाग में प्रयुक्त होती है। उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, झारखण्ड, दिल्ली, बिहार, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, बिहार— हिंदी-पट्टी के दायरे में ग्यारह राज्य आते हैं पर उनमें हिंदी के अलावा कई अन्य स्थानीय भाषाएँ भी बोली जाती हैं। चूँकि हर प्रांत का, हर समाज का अपना स्थानीय, सांस्कृतिक और सामाजिक-राजनीतिक परिवेश है, इसलिए इतने विस्तृत भू-भाग को अपने में समेटने वाले विशाल और विविध क्षेत्र का कोई एक चित्रण समूचे हिंदी प्रदेश का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। यह तो तरह-तरह की छवियों से मिल कर बना समुच्चय है। यद्यपि किसी प्रदेश या समाज की एक विशिष्ट पहचान बनाने में भाषा की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, पर स्थानीय परिवेश भी किसी भाषा के मिज़ाज और स्वरूप को प्रभावित करता है। इस परिप्रेक्ष्य में हिंदी को देखें तो इस भाषा की आंतरिक विविधता इतनी बारीकियाँ लिए हुए है कि उसकी किसी एक शैली को पूरे हिंदी जगत का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान में हिंदी के व्यवहार-जगत की पड़ताल करने के लिए यह देखना ज़रूरी है कि आज हिंदी की हमारे जीवन में क्या भूमिका है।[1] समय के साथ वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में इन भूमिकाओं में क्या बदलाव आया है? हम कैसे और किन संदर्भों में हिंदी का प्रयोग करते हैं— इसे समझना भी बेहद ज़रूरी है। यद्यपि यह कहना ग़लत नहीं होगा कि पिछले कुछ दशकों (विशेष रूप से नव-उदारतावादी दौर) में अधिकतर दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी का दायरा भी अनौपचारिक संदर्भों में सिमटता चला गया है पर वास्तव में सिर्फ़ इतना ही कहना हिंदी प्रदेश में भाषाई परिदृश्य का अतिसामान्यीकरण होगा। जिस तरह हिंदी के मिज़ाज को एक तस्वीर से बयान नहीं किया जा सकता, उसी तरह हिंदी-पट्टी में रहने वाले लोगों के दैनिक जीवन में हिंदी का क्या स्थान है— इसका कोई एक सामान्य ब्योरा नहीं हो सकता। लोग किन संदर्भों में, किन उद्देश्यों के लिए हिंदी का इस्तेमाल करते हैं— इसके पीछे भौगोलिक प्रदेश, शिक्षा, आयु/पीढ़ी, महानगरीय-शहरी-ग्रामीण पृष्ठभूमि, सामाजिक-आर्थिक श्रेणी आदि कई घटक काम करते हैं। प्रस्तुत लेख का संदर्भ-बिंदु दो कारणों से मुख्यत: दिल्ली ही रहेगी। पहला, दिल्ली हिंदी प्रदेश का सबसे ज़्यादा सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) महानगर है जहाँ का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश हाल के वर्षों में हिंदी के स्वरूप और शैली को प्रभावित करता रहा है। यही कारण है कि दिल्ली और हिंदी प्रदेश के अन्य शहरों के भाषाई परिदृश्य में और वहाँ प्रयुक्त हो रही हिंदी में काफ़ी अंतर है। दूसरा, सत्ता और भाषा के बीच गहरा संबंध होता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जिनके हाथ में सत्ता होती है उनकी भाषा का, या जो प्रदेश सत्ता का केंद्र होते हैं वहाँ की भाषा का समाज में वर्चस्व होता है। हिंदी के संदर्भ में देखें तो दिल्ली सत्ता का केंद्र है। इस लिहाज़ से दिल्ली में प्रयुक्त होने वाली हिंदी भले ही अन्य हिंदी-भाषी प्रदेशों में हिंदी के चरित्र को प्रभावित न करे, पर देश-समाज में उसकी हैसियत ज़रूर निर्धारित करती है। इसके साथ-साथ यह शैली आने वाले समय में हिंदी के दायरे, चरित्र और स्थिति के प्रति भी हमें आगाह करती है।

हिंदी की भूमिका

जब तक किसी भाषा का इस्तेमाल लोगों के बीच अनौपचारिक संवाद में होता रहता है, तब तक वह गतिमान व परिवर्तनशील होती है। हिंदी भी दिल्ली के विभिन्न तबक़ों के लोगों की भावनाओं और सोच की भाषा है, चाहे कोई शिक्षित हो या अशिक्षित, सत्तारूढ़ वर्ग का हो या सत्ताहीन वर्ग का।

[1] भाषा हमारे लिए सोचने, तर्क करने, आदि कई चीज़ों का माध्यम है. देखें, एम.ए.के. हैलिडे (1975). यहाँ हम केवल लिखित और मौखिक संदर्भ में ही भाषा की भूमिका की बात कर रहे हैं.

इसलिए बातचीत की भाषा के रूप में मौखिक हिंदी की जीवंतता बनी हुई है पर व्यक्ति के जीवन या समाज में किसी भाषा की प्रासंगिकता स्थापित होने के लिए उस भाषा का इतना ही व्यवहार-क्षेत्र काफ़ी नहीं है।[2] इसके ठीक विपरीत शेष हिंदी प्रदेश में उसका व्यवहार-क्षेत्र कहीं ज़्यादा व्यापक है। वर्तमान में जिन रूपों में जिन सार्वजनिक संदर्भों में हिंदी प्रयुक्त होती है, उसका जायज़ा लेने से पहले ज़रूरी है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और विकास-यात्रा पर एक नज़र डाली जाए।

वास्तव में विमर्शी हिंदी के मौजूदा चरित्र की नींव आज़ादी से ठीक पहले और बाद के घटनाक्रम, धार्मिक अस्मिता के ज़रिये उर्दू और हिंदी के बीच पैदा किये गये तनाव, संविधान-निर्माण के दौरान भाषा पर हुई बहसों और तत्पश्चात बनाई गयी नीतियों में देखी जा सकती है।[3] कृष्ण कुमार ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस जटिल मुद्दे के विश्लेषण के ज़रिये कई परतें हमारे सामने खोलते हैं और इसे 'भाषा का प्रबंधन' के रूप में देखते हैं।[4] अन्य एकभाषी देशों के 'एक भाषा, एक राष्ट्र' के दृष्टांत को सामने रखते हुए हमारे यहाँ भी राष्ट्र-निर्माण में भाषा को महत्त्वपूर्ण माना गया और हिंदी को राष्ट्रभाषा की भूमिका में देखा गया पर विकसित भाषा का मानक अंग्रेज़ी को ही माना गया। फलस्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा होने के लायक़ बनाने के लिए उसका 'संवर्धन' और विकास ज़रूरी था और इस काम की ज़िम्मेदारी केंद्र पर डाल दी गयी— यानी पहले भाषा का 'विकास', फिर उसका इस्तेमाल। भाषा व्यवहार के दौरान ही समृद्ध होती चलती है और यही नैसर्गिक प्रक्रिया है।[5] पर यह सोच नीति-निर्णायकों की थी ही नहीं। हिंदी को सक्षम बनाने की प्रक्रिया को कैसे परिभाषित किया गया? इसके पीछे दो क़िस्म की शक्तियाँ काम कर रही थीं : पहला, हिंदी-उर्दू विवाद की पृष्ठभूमि में हिंदी की पैरवी करने वाले समूह का वर्चस्व; तथा दूसरा, राज और समाज के बीच के अंतराल को बनाए रखने की राजनीति। हिंदी के विकास के लिए राज्य ने जो ख़ाका और नीतियाँ बनाईं, उनमें अनुवाद और नयी शब्दावली-निर्माण को बड़े संसाधन के रूप में देखा गया। इस प्रकार 'हिंदी के विकास की ज़रूरत और राह दोनों को तय करने में अंग्रेज़ी-

लोगों की भावनाओं और विचारों की भाषा के रूप में हिंदी की जीवंतता से इनकार नहीं किया जा सकता, पर हिंदी के विमर्शी स्वरूप के स्थापित होने और इस भूमिका में उसकी पहचान बन पाने का सफ़र अभी लम्बा है। जब तक कोई भाषा औपचारिक-अनौपचारिक हर क़िस्म के संदर्भ में बरती नहीं जाती और जब तक वह ज्ञान, साहित्य, प्रशासन, प्रौद्योगिकी आदि सभी सम्भव क्षेत्रों में माध्यम के रूप में अपना अस्तित्व स्थापित नहीं कर पाती— उसकी जीवंतता, विकास और प्रासंगिकता आंशिक ही रहेगी।

---

[2] 'कोई भी भाषा सही मायनों में रोज़मर्रा की बातचीत की भाषा के रूप में जीवित नहीं रह सकती. अपने विविध संदर्भों और आयामों में विचार और भावना दोनों धरातलों पर उसका बरता जाना और सराहा जाना ज़रूरी है. हिंदी बोलने वालों के साथ-साथ हिंदी में रचे जा रहे साहित्य और साहित्यिक विमर्श को सराहने और गुनने वालों का होना ज़रूरी है. विभिन्न विषयों से सम्बद्ध ग़ैर-साहित्यिक विमर्श करने और पढ़ने-सुनने वालों का होना ज़रूरी है'. देखें, मुकुल प्रियदर्शिनी (2012).

[3] ई. अन्नामलाई (2005).

[4] कृष्ण कुमार (2015) : 75-82.

[5] अभय कुमार दुबे (2010) : 69; और ई. अन्नामलाई (2005) : वही.

भाषी अभिजन और हिंदी आंदोलन को नेतृत्व देनेवालों के बीच का संवाद निर्णायक सिद्ध हुआ।'[6]

आज़ादी के कुछ वर्षों बाद इसके लिए बाक़ायदा पारिभाषिक शब्दावली आयोग का गठन किया गया जिसने सभी अनुसूचित भाषाओं में विज्ञान, मानविकी, समाज-विज्ञान आदि से संबंधित पारिभाषिक शब्दकोश बनाए और विभिन्न विषयों की वैमर्शिक प्रयुक्तियों के लिए नये शब्द गढ़े। इस प्रक्रिया में बल इस बात पर रहा कि या तो संस्कृत शब्दों को सीधे-सीधे उधार लिया जाए या फिर संस्कृत से लिए गये शब्दों में उपसर्ग-प्रत्यय का फेर-बदल करके नये शब्द गढ़े जाएँ। इस बात पर क़तई ग़ौर नहीं किया गया कि जो नये शब्द गढ़े जा रहे हैं, उनकी सम्प्रेषणीयता कितनी है। क्या वे शब्द हिंदी की आंतरिक संगति से मेल खाते हैं? क्या वे शब्द संरचना की दृष्टि से इतने पारदर्शी हैं कि हिंदी की अच्छी समझ रखने वाले पाठक उन शब्दों के अर्थ का अनुमान लगा सकें? उदाहरण के तौर पर, परफ़ॉर्मिंग आर्ट्स के लिए 'परिमार्जन कलाएँ' अर्थ की दृष्टि से पारदर्शी न होने के कारण बोधगम्य नहीं है जबकि 'मंचन कलाएँ ' शब्दश: सटीक अनुवाद नहीं है फिर भी उसमें सम्प्रेषणीयता अधिक है। विभिन्न अनुशासनों में हिंदी को 'विकसित' करने के लिए जो शब्द बनाए गये, उनमें नयी शब्दावली के निर्माण में 'विदेशी' शब्दों (यानी अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी आदि के शब्दों) को बाहर रखा गया और संस्कृत स्रोतों का ही सहारा लिया गया। ऐसे में स्वाभाविक ही था कि कृत्रिम प्रक्रिया से बनाकर लाद दी गयी यह हिंदी किसी के मानस और भाषाई जगत का हिस्सा नहीं बन पायी। इस प्रकार जनभाषा हिंदी और औपचारिक हिंदी के बीच की खाई बढ़ती चली गयी।

कार्यालयी हिंदी

सरकारी कार्यालयों में पारिभाषिक शब्दावली आयोग द्वारा गढ़े गये शब्दों का प्रयोग करना अनिवार्य होता है। ऐसी हिंदी रूढ़ अनुवाद के बंधनों में बँधी है जिसमें संस्कृत से तत्सम शब्द उठाने का विशेष आग्रह रहता है और उर्दू से परहेज़। हिंदी-पट्टी के सभी राज्यों में कार्यालयी भाषा के रूप में औपचारिक हिंदी का प्रयोग होता है। सरकार द्वारा जारी निविदाओं, अख़बारों में छपने वाली सार्वजनिक सूचनाओं और सरकारी विभागों के बीच आपसी पत्र-व्यवहार के लिए प्रयुक्त होने वाली हिंदी का चरित्र बोलचाल की हिंदी से बहुत भिन्न है। संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दों की मदद से गढ़ी गयी यह औपचारिक हिंदी आमजन हो या विद्वज्जन— किसी के भी भाषाई मानस का हिस्सा नहीं है। यही वजह है कि सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से यह हिंदी बहुत कमज़ोर होती है। औपचारिक हिंदी का दूसरा उदाहरण विविध विमर्शी संदर्भों में प्रयुक्त होने वाली हिंदी का है जिसका प्रयोग उच्च शिक्षा, ज्ञान-मीमांसा और अकादमिक जगत में होता है। औपचारिक हिंदी के इस रूप में कार्यालयी हिंदी जितनी कृत्रिमता और यांत्रिकता या सम्प्रेषणहीनता तो नहीं है, पर जटिल और दुरूह ज़रूर है। भारत में आधुनिक ज्ञान-मीमांसा (विशेष रूप से बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में) पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा से काफ़ी प्रभावित हुई है। समाज-विज्ञान के विभिन्न विषयों में प्रचलित सिद्धांतों, विमर्श की अंतर्वस्तु और उसके मुहावरे में यह बात साफ़ झलकती है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम भी इस बात के प्रमाण हैं। इस पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा से हमारा परिचय औपनिवेशिक दौर में शुरू हुआ और ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ी के माध्यम से हुआ, उन युरोपीय भाषाओं के ज़रिये नहीं, जिनमें ज्ञान की मूल रचना होती रही है। औपचारिक और अनौपचारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल होने वाली दोनों क़िस्म की हिंदी में काफ़ी अंतर है।

---

[6] कृष्ण कुमार (2015) : 79.

पत्रकारिता जगत की हिंदी

विमर्शी हिंदी का तीसरा रूप पत्रकारिता जगत में देखने को मिलता है। यद्यपि जनांदोलनों और सामाजिक संगठनों की तरह पत्रकारिता जगत में विमर्श की हिंदी का रूप पूरी तरह विकसित और स्थापित है, फिर भी पिछले तीन-चार दशकों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त होने वाली हिंदी की प्रकृति में काफ़ी बदलाव आया है। इस बदलाव के कारण आंतरिक भी हैं और ये बाहरी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिदृश्य से भी जुड़े हैं। पिछली आधी सदी में हिंदी पत्रकारिता ने कई संघर्ष, कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। अस्सी का दशक शुरू होते-होते बड़े प्रकाशन समूहों का स्वामित्व अगली पीढ़ी के हाथ में जाने लगा। इसके बाद हिंदी में छपने वाली कई पत्रिकाएँ या तो बंद हो गयीं या फिर पहले से अंग्रेज़ी में छप रही समाचार-पत्रिकाओं के हिंदी संस्करण छपने लगे जिनमें अधिकांश सामग्री अनूदित होती थी। देश में आर्थिक उदारीकरण का दौर शुरू होने के बाद हिंदी पत्रकारिता जगत में बदलाव का एक और दौर आया जो हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के विस्तार-प्रसार के लिए शुभ संकेत लेकर आया। बाज़ार के इस नये युग में पाठक को उपभोक्ता के रूप में देखा जाने लगा जिसे अपने उत्पादों की ओर आकर्षित करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया (अख़बार-पत्रिकाएँ) का स्पेस बहुत मुफ़ीद था। फलस्वरूप न सिर्फ़ विभिन्न भारतीय भाषा-भाषी राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं की बल्कि स्थानीय हिंदी अख़बारों की भी बाढ़-सी आ गयी। दूसरी ओर अंग्रेज़ी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को भी एक बिल्कुल अलग कारण से अंग्रेज़ियत के कवच से बाहर आना पड़ा जब भारतीय राजनीति में उभरे नये नायकों और उनकी सामाजिक-भाषाई पृष्ठभूमि ने ऐसा वातावरण बनाया जिसमें हिंदी से परिचित होना और उसका प्रयोग करना इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के वरिष्ठ पत्रकारों के लिए भी पेशेवर ज़रूरत बन गया। इन सबका पत्रकारिता जगत में हिंदी और पत्रकारिता की हिंदी दोनों पर प्रभाव पड़ा। एक ओर तो स्थानीय स्तर पर हिंदी अख़बारों की संख्या बढ़ने से हिंदी में विमर्श का दायरा विस्तृत होता चला गया। दूसरी ओर अंग्रेज़ी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में विभिन्न मुद्दों पर बहस और चर्चाओं में हिंदीभाषी लोगों की भागीदारी बढ़ने के कारण हिंदी में विमर्श का प्रसार और संवर्धन हुआ। पर व्यापारिक सम्भावनाओं को बनाए रखने के लिए अपने पाठक वर्ग का लगातार विस्तार करना इन पत्रिकाओं का उद्देश्य होता है, इसलिए पत्रकारीय विमर्श की हिंदी सामान्यत: बोधगम्य होती है, भले ही वह अनुवाद क्यों न हो।

यहाँ यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि पत्रकारीय हिंदी भी संस्कृतनिष्ठता के प्रयासों से अछूती नहीं रही। आज़ादी से पहले राष्ट्रवाद की प्रतीक बना दी गयी हिंदी उर्दू से अलग है— यह स्थापित करने के लिए हिंदी के संस्कृतकरण / 'हिंदूकरण' के प्रयास हिंदी में नुक़्ते का प्रयोग न करने या 'ज-ज़', 'फ-फ़' में अंतर न करने के निर्णय में दिखाई देते हैं। नुक़्ते का इस्तेमाल न करना हिंदी में फ़ारसी-अरबी के योगदान को नकारने-जैसा है। जैफ्री के अनुसार समाचारपत्रों द्वारा नुक़्ते का इस्तेमाल करने या न करने का निर्णय इस बात से प्रभावित था कि उनका पाठकवर्ग कैसा है।[7] *पंजाब केसरी* में नुक़्ते का प्रयोग होता था और उसके पाठक पंजाब, दिल्ली आदि हिंदी पट्टी के उत्तरी हिस्सों के थे, जबकि *दैनिक जागरण* का पाठक-वर्ग उत्तर प्रदेश-जैसे हिंदी पट्टी के उन हिस्सों से था जहाँ उर्दू का प्रभाव उतना नहीं था। पर हम उत्तर प्रदेश के भाषाई समाज का निरीक्षण करें तो पाएँगे कि उसका भी एक उल्लेखनीय हिस्सा उर्दूभाषी है। आज़ादी के बाद भाषाई मसलों पर निर्णय लेने वालों में ज़्यादा दबदबा और प्रतिनिधित्व सम्भवत: भाषाई साम्प्रदायिकता की सोच रखने वाले लोगों का था। शायद यही वजह है कि इस क्षेत्र में नुक़्ते का प्रयोग ग़ायब होने लगा पर अब हिंदी में नुक़्ता न इस्तेमाल करने की ऐसी परम्परा बन गयी है कि बहुत से ऐसे प्रगतिशील/उदारतावादी लेखक, पत्र-पत्रिकाएँ और

---

[7] रॉबिन जैफ्री (1997) : 77-83.

अख़बार जो उर्दू-संस्कृत के पूर्वग्रह से मुक्त हैं, वे भी नुक़्ते का प्रयोग नहीं करते। बल्कि मानक हिंदी का मापदण्ड मानी जाने वाली केंद्रीय हिंदी निदेशालय की पुस्तिका में नुक़्ते का प्रयोग हिंदी में आये अंग्रेज़ी शब्द-भण्डार से प्रभावित लगता है : इस पुस्तिका में ज़ और फ़ के प्रयोग का प्रावधान है पर क़, ख़, ग़ का नहीं। ये पाँचों ध्वनियाँ उर्दू में हैं पर अंग्रेज़ी में केवल ज़ और फ़ हैं। चूँकि अंग्रेज़ी प्रतिष्ठा की भाषा है इसलिए उसके शब्दों में ज़ और फ़ का प्रयोग न करने में जहालत की बू आती है और वह हमारे कानों को अटपटा लगता है, पर क़, ख़, ग़ का उच्चारण न करना या उर्दू के शब्दों में ज़ और फ़ की जगह क्रमश: ज और फ सुनना हमें अटपटा नहीं लगता। कई संदर्भों में नुक़्ते का प्रयोग न करने पर अर्थ ही बदल जाता है। जैसे, ज़ंग-जंग। लिपि की सटीकता नुक़्ते के इस्तेमाल के लिए सबसे जायज़ तर्क हो सकता है : यदि देवनागरी में नुक़्ते का फ़र्क़ दिखाने का प्रावधान है तो उसे छोड़ देने का कोई औचित्य नहीं है।

जहाँ तक शब्द-चयन का प्रश्न है, लम्बे समय तक तत्सम शब्दों के प्रयोग पर अधिक बल रहा क्योंकि राष्ट्रवाद की प्रतीक के रूप में हिंदी की छवि अब तक पुख़्ता हो चुकी थी। इस पर से हिंदी को संसदीय भाषा और सम्पर्क भाषा की नयी भूमिका मिल गयी थी। इसके चलते शुद्धता और मानकता का आग्रह जुड़ना स्वाभाविक था। फिर भी पत्रकारीय हिंदी और कार्यालयी व अकादमिक हिंदी में लगातार फ़र्क़ बना रहा क्योंकि अपने व्यापारिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए और अधिक से अधिक लोगों के लिए बोधगम्य होने के लिए पत्रकारिता हमेशा लोगों से मुख़ातिब होने का सरोकार रखती है पर पत्रकारिता और सृजनात्मक साहित्य की हिंदी के बावजूद संस्कृतनिष्ठ, मानक हिंदी का दबदबा बना रहा है। शैक्षिक और अकादमिक जगत में विशेष रूप से 'शुद्ध' हिंदी पर बल दिया जाता रहा। पर बीसवीं सदी के सातवें दशक में जयप्रकाश आंदोलन के दौरान पत्रकारीय हिंदी के तेवर में बदलाव आया और वह आमजन की भाषा के थोड़ा और नज़दीक पहुँच गयी। यह सम्भवत: हिंदी के शुद्धतावादी और 'ब्राह्मणवादी' स्वरूप के प्रति इस आंदोलन से निकले पत्रकारों का विद्रोह था।

सेवंती नाइनन अपनी पुस्तक *हेडलाइंस फ्रॉम द हार्टलैंड* में नौवें दशक में हिंदी-पट्टी में हुई 'अख़बार-क्रांति' का लेखा-जोखा देते हुए बताती हैं कि *जनसत्ता* के आगमन के साथ हिंदी पत्रकारिता की भाषा और जीवंत हुई और उसने कई शब्दों, मुहावरों और अभिव्यक्तियों को जन्म दिया।[8] आर्थिक उदारीकरण के दौर और उससे जुड़े कई अन्य कारणों के चलते हिंदी पत्रकारिता का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। दूसरी ओर हिंदी प्रदेश में साक्षरता की दर में भी काफ़ी वृद्धि हुई। समाचारपत्रों के स्थानीय संस्करण छपने के परिणामस्वरूप अख़बार-पत्रिकाओं की पहुँच ग्रामीण क्षेत्रों में सुगम हो गयी और अब ये अख़बार ग्रामीण पाठकों से भी मुख़ातिब थे। इस प्रकार ग्रामीण पाठक भी उपभोक्ता वर्ग का हिस्सा बनने लगे। धीरे-धीरे स्थानीयकरण के चलते पत्रकारिता में आंचलिक शब्द भी शामिल होने लगे।

पर हिंदी का स्थानीयकरण छोटे पैमाने पर ही हो रहा था। उसके बृहत्तर स्वरूप पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव के लिए ग्रामीण-क़स्बाई स्थानीयकरण प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदार नहीं था। उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के दौरान पत्रकारीय हिंदी के स्वरूप पर सबसे अधिक और दूरगामी प्रभाव अंग्रेज़ी का पड़ा। 'अंतर्राष्ट्रीयता का तकाज़ा' की दलील पर हिंदी में अंग्रेज़ी मिश्रित शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले-से होने लगा। अख़बार-पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापनों से शुरू हो कर धीरे-धीरे इस शैली की हिंदी का प्रयोग मनोरंजन और स्थानीय पन्नों में भी होने लगा। समाचारपत्र के मुख्य हिस्सों में ऐसी हिंदी के प्रयोग की शुरुआत *नवभारत टाइम्स* ने की जिसे बाद में कुछ दूसरे अख़बारों ने भी थोड़ा-बहुत अपनाया। अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी के प्रयोग का आरम्भ सीधे छपाई मीडिया में नहीं हुआ। भाषा-परिवर्तन का यह सामान्य नियम है कि उसके बीज मौखिक भाषा में होते हैं; लिखित रूप अपेक्षाकृत

---

[8] सेवंती नाइनन (2007).

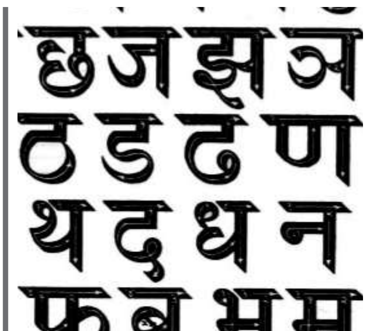
रूढ़ होता है, इसलिए उसमें परिवर्तन देर में और धीमी गति से होता है। केबल टीवी के आगमन के साथ 24 घंटे प्रसारण वाले धारावाहिक और लोकप्रिय संगीत प्रस्तुत करने वाले मनोरंजन और समाचार चैनलों की बाढ़ आ गयी जिनके दर्शक शहरी भारतीयों के साथ-साथ पड़ोस के दक्षिण-एशियाई देशों में रह रहे अनिवासी भारतीय भी थे। इन दोनों वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करने के लिए विभिन्न चैनल लगभग सभी कार्यक्रमों में अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी का प्रयोग करने लगे। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में बरती जाने वाली यह भाषा छपाई मीडिया में भी तेज़ी से अपनी जगह बनाने लगी।

छपाई मीडिया में यह क़दम उठाने का निर्णय लेने वाले मीडिया-मुखियाओं का तर्क था कि हम आधुनिक हिंदी का इस्तेमाल कर रहे हैं, पण्डिताऊ हिंदी का नहीं; आम जन की बोलचाल की भाषा यही है। 'अख़बार चूँकि जनता से बात करते हैं, इसलिए वे ऐसी भाषा से ज़्यादा समय दूर नहीं रह सकते।'[9] पर सच्चाई यह है कि जिसे वे आम जन की भाषा कह रहे थे, वह वास्तव में शहरी या अनिवासी हिंदी समाज की भाषा थी, समूची हिंदी-पट्टी की नहीं।

अकादमिक हिंदी

अकादमिक विमर्श या ज्ञानक्षेत्र का जगत केवल गम्भीर लिखित ग्रंथों से नहीं बनता। उसे बनाने में मौखिक विमर्श का भी योगदान होता है। इसी प्रकार अकादमिक विमर्श की हिंदी के दायरे में उच्च शिक्षा का संदर्भ भी अनिवार्यत: शामिल होता है। दूसरे शब्दों में हिंदी प्रदेश के ज्ञानक्षेत्र का जगत हिंदी में मौलिक चिंतन, ज्ञान-रचना, विश्वविद्यालयों के छात्र-छात्राओं के लिए अकादमिक लेखन और अकादमिक आयोजनों के ज़रिये मौखिक विमर्श से मिलकर बनता है।

इस पृष्ठभूमि में यदि हम लिखित अकादमिक हिंदी के सफ़र पर एक नज़र डालें तो बहुत सुखद तस्वीर सामने नहीं आती है। यद्यपि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में दर्शन आदि में मूल हिंदी-लेखन होता था पर बांग्ला जैसी विमर्श परम्परा हिंदी में नहीं रही।[10] एक समय था जब 'हिंदी में साहित्य संबंधी विमर्श, समीक्षा और गम्भीर चिंतन का जगत था (पर) आज हिंदी के पास उस जगत की एक स्मृति भर है'।[11] हालाँकि बीसवीं सदी के नौवें-दसवें दशक में प्रिंट मीडिया में ज़बरदस्त उछाल आने के बाद अख़बार-पत्रिकाओं के पाठकों की संख्या में भी



भारतीय राजनीति में उभरे नये नायकों और उनकी सामाजिक-भाषाई पृष्ठभूमि ने ऐसा वातावरण बनाया जिसमें हिंदी से परिचित होना और उसका प्रयोग करना इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए भी पेशेवर ज़रूरत बन गया। इन सबका पत्रकारिता जगत में हिंदी और पत्रकारिता की हिंदी दोनों पर प्रभाव पड़ा। एक ओर तो स्थानीय स्तर पर हिंदी अख़बारों की संख्या बढ़ने से हिंदी में विमर्श का दायरा विस्तृत होता चला गया। दूसरी ओर अंग्रेज़ी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में विभिन्न मुद्दों पर बहस और चर्चाओं में हिंदीभाषी लोगों की भागीदारी बढ़ने के कारण हिंदी में विमर्श का प्रसार और संवर्धन हुआ।

---

[9] *नवभारत टाइम्स,* 19 दिसम्बर, 2006.

[10] 2003 में विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम के उद्घाटन के अवसर पर प्रोफ़ेसर पार्थ चटर्जी ने कहा था : 'उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बंगाल का समग्र विचार साहित्य अंग्रेज़ी में नहीं बल्कि बांग्ला में ही रचा गया था. चाहे आधुनिकता का प्रश्न हो, परम्परा पर बहस हो, सुधारों की चर्चा हो या उपनिवेशवाद पर की गयी अनुक्रिया हो, सभी आख्यान बांग्ला में ही तैयार किये गये थे.' देखें, विभास वर्मा (सं.) (2012) : 439-42.

[11] 2003 में विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम के उद्घाटन के अवसर पर आयोजित परिसंवाद 'हिंदी और समाज-विज्ञान का भविष्य' में बोलते हुए कृष्ण कुमार ने यह कहा था. देखें, विभास वर्मा (2012) : 444-461.

बहुत तेज़ी से वृद्धि हुई। इसके साथ-साथ बड़ी संख्या में छात्र-छात्राएँ उच्च शिक्षा पाने के लिए विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने लगे। इसका दूरगामी परिणाम यह हुआ है कि पिछले कुछ वर्षों में समाज विज्ञान के लेखन और प्रकाशन का परिदृश्य थोड़ा बदला है और ग़ैर-कथात्मक साहित्य के पाठकों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। पर विज्ञान और मानविकी के अन्य क्षेत्रों में सम्भवत: ऐसा नहीं हुआ है।

दिल्ली के बाहर हिंदी-पट्टी में छपने वाली ग़ैर-साहित्यिक पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि, साहित्यिक पत्रिकाओं में सामाजिक मुद्दों पर विमर्शी सामग्री छपने की शुरुआत और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) द्वारा 2001 में शुरू किये गये भारतीय भाषा कार्यक्रम का काम जैसे कुछ उदाहरण हमारे सामने हैं। इसके अतिरिक्त ग्रंथशिल्पी और संवाद जैसे कई प्रकाशकों द्वारा छापी जाने वाली समाज-विज्ञान, शिक्षा आदि की किताबें भी हैं। दूसरी ओर समाज-विज्ञान के विभिन्न विषयों पर धड़ल्ले से लिखी जा रही पाठ्य पुस्तकों का बाज़ार है। फिर मुख्य धारा के कुछ हिंदी और अंग्रेज़ी के प्रकाशकों के प्रयास भी हैं। पर ये सभी प्रकाशन मूलत: अंग्रेज़ी से अनूदित हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या पाठकों की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न प्रकार का और विभिन्न स्तरों का अच्छी गुणवत्ता का विवेचनात्मक साहित्य उपलब्ध हो रहा है? क्या हम विद्यार्थियों को ऐसा विमर्शी साहित्य दे पा रहे हैं जो सुपाठ्य तो हो पर जिसमें सरलीकृत विश्लेषण न हो— ऐसा साहित्य जो समाज को सूक्ष्म तरीक़े से परखने और विश्लेषण करने की दृष्टि विद्यार्थियों में विकसित कर पाए? ऐसा साहित्य जिसके इन दो गुणों के बूते विमर्शी साहित्य के पाठकों की संख्या में इज़ाफ़ा तो हो ही, हिंदी में विमर्श-जगत बनाने और उसे सुदृढ़ करने वाले भागीदारों की एक पीढ़ी भी तैयार हो सके। क्या ये सारे प्रयास हिंदी में अकादमिक विमर्श का जगत रच पाए हैं? और फिर कितने छात्रों तक यह साहित्य पहुँच पा रहा है? क्या कोई ऐसा साझा मंच तैयार हो पाया है जहाँ शिक्षक समुदाय और इस काम में लगे लोगों के बीच संवाद हो सके और शिक्षकों की मध्यस्थता से युवा पीढ़ी इस साहित्य से रूबरू हो सके? पिछले एक दशक में हिंदी में समाज-विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ छपा है उसमें से अधिकांश मूल अंग्रेज़ी में लिखे गये ग्रंथों या अंग्रेज़ी व अन्य यूरोपीय भाषाओं से अंग्रेज़ी में अनूदित क्लासिक ग्रंथों का अनुवाद ही है। भारतीय भाषाओं में लिखे गये विमर्शी साहित्य के परस्पर अनुवाद की चर्चा भी नहीं होती। निस्संदेह, अनुवाद की ज़रूरत और महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता, पर अनूदित ज्ञान और मूल स्थानीय भाषा में हुए ज्ञान-सृजन में बहुत अंतर होता है। हम कह सकते हैं कि नारीवाद, उदारतावाद, राष्ट्रवाद आदि जैसी सैद्धांतिक संरचनाओं की प्रोसेसिंग विभिन्न भाषाओं में एक-सी नहीं हो सकती, वह प्रोसेसिंग भाषा सापेक्ष होती है। यही वजह है कि पचास के दशक में शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव और रामविलास शर्मा सरीखे मार्क्सवादियों के बीच जो बहस चली थी उसके माध्यम से हिंदी के मार्क्सवाद का वह रूप निकल कर आता है जो अंग्रेज़ी में सम्भव नहीं है। दलित-विमर्श के संदर्भ में यह बात विशेष रूप से मुखर होकर सामने आती है। इसलिए अनुवाद कर्म के बूते किसी भाषा में मौलिक ज्ञान-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती और वह भी अंग्रेज़ी-जैसी सांस्कृतिक दृष्टि से अलग भाषा से। दरअसल, विचार और भाषा का संबंध बहुत गहरा है। भाषा हमें दुनिया-समाज को देखने की विशिष्ट दृष्टि देती है (सपीर-वोर्फ़ प्राक्कल्पना [12])। जिस औज़ार की मदद से हम दुनिया को समझने और रूपायित करने की कोशिश कर रहे हैं वह औज़ार उस समाज की मिट्टी-हवा-पानी में पनपा है या किसी और समाज में उसकी जड़ें हैं— यह बात बहुत मायने रखती है। दूसरी स्थिति में भाषा के पास वह सांस्कृतिक और स्थानीय मुहावरा नहीं होगा जो उस समाज की ज़मीनी बारीकियों का विश्लेषण कर सके। इस संदर्भ में विजयबहादुर सिंह और योगेंद्र

---

[12] एडवर्ड सपीर और बेंजामिन वोर्फ़ की प्राक्कल्पना के अनुसार लोगों का सोचने का नज़रिया बहुत-कुछ उनकी भाषा से प्रभावित और निर्धारित होता है. दूसरे शब्दों में, भाषा की मदद से ही हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक और अवधारणात्मक समझ बनती है.

यादव का मानना है कि भारत का बौद्धिक जगत एक 'द्विभाजन' का शिकार है :

> पहली नज़र में यह खाई एक भाषाई फाँक जैसी दिखाई देती है— एक ओर अंग्रेज़ी और दूसरी ओर भारतीय भाषाएँ...(पर) यह अंतर केवल एक भाषाई फाँक नहीं है। यह अनुभूति, अभिव्यक्ति और ज्ञान के दो संसारों का अंतर है। अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं के चिंतन की विषय-वस्तु, विधा, प्रेरणा-स्रोत और अवधारणात्मक सूत्र एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। इनके सामाजिक दायरे एक-दूसरे से जुदा हैं। इसलिए इस फाँक की वजह से सिर्फ़ हिंदी का जगत ही नहीं अंग्रेज़ी की दुनिया भी ग़रीब हो गयी है ... भारतीय समाज और चिंतन को बाँटने वाली इस खाई के चलते सही मायने में एक भारतीय समाजशास्त्र का जन्म नहीं हो पाया है।[13]

यही वजह है कि सिर्फ़ अंग्रेज़ी से अनूदित पठन-सामग्री एक सीमा के बाहर पाठक के लिए स्थानीय प्रासंगिकता खो बैठती है। इसलिए ज़रूरी है कि एकतरफ़ा अनुवाद के सिलसिले को तोड़ा जाए और योजनाबद्ध तरीक़े से मूल भारतीय भाषाओं में लिखी गयी सामग्री के अनुवाद भी मुहैया कराए जाएँ।

पर बात सिर्फ़ वर्तमान में लिखे जा रहे विमर्शी साहित्य के परस्पर अनुवाद की ही नहीं है, अतीत में भारतीय भाषाओं में विकसित हुई ज्ञान-प्रणालियों और दर्शन पर चिंतन-मनन की भी है। आधुनिक विमर्शी साहित्य का स्वरूप चूँकि पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा की खाद-पानी में उपजा, उसे साधने के दौर में हमने संस्कृत में उपलब्ध *अर्थशास्त्र, अष्टाध्यायी, नाट्यशास्त्र* आदि जैसे मौलिक विमर्शी साहित्य को पढ़ने-समझने की आवश्यकता नहीं महसूस की जबकि अन्य देशों के कई विद्वान इन्हें ख़ूब उद्धृत करते हैं। यह ज़रूरी है कि इन ज्ञान-परम्पराओं के लिए नये सिरे से चेतना विकसित की जाए। मुख्यधारा के अकादमिक जगत में तो इस साहित्य को लाना होगा ही, साथ ही साथ उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में भी इसे जगह देनी होगी।

जन-आंदोलनों की हिंदी

विमर्शी हिंदी का तीसरा रूप वह है जो ग़ैर-सरकारी संगठनों और जन आंदोलनों में विभिन्न मुद्दों पर मौखिक और लिखित रूप में हमें सुनने-पढ़ने को मिलता है। यदि हम इन संगठनों द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले समाचार बुलेटिन, पर्चे आदि देखें तो पाएँगे कि अपने विशिष्ट उद्देश्यों और सम्भावित पाठक वर्ग के अनुरूप इन संगठनों में विमर्श का एक स्थापित रूप है। भाषा का यह रूप चूँकि उनसे जुड़े लोगों के बीच काम की प्रक्रिया में विकसित हुआ है, इसलिए ज़मीनी कार्यकर्ताओं और आम जन के बीच का संवाद भाषा के कारण सामान्यत: नहीं टूटता। सैद्धांतिक विमर्श को छोड़ दें तो हम कह सकते हैं कि जन आंदोलनों की सामग्री में प्रयुक्त होने वाली हिंदी समाज-विज्ञान के विमर्श के लिए भी प्रासंगिक है। अपनी प्रकृति में यह शैली पत्रकारिता की हिंदी के ज़्यादा नज़दीक है क्योंकि यहाँ भी उद्देश्य लोगों तक मुद्दे पहुँचाने का है। सम्भवत: जहाँ भी सम्प्रेषण की प्रतिबद्धता होती है, लेखक पाठक से मुख़ातिब होने का प्रयास करता है और सहज भाषा का प्रयोग करने की कोशिश करेगा। फ़र्क़ यह है कि पत्रकारिता के साहित्य के लिए कथ्य और शैली की दृष्टि से लोकप्रियता का पैमाना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है जबकि सामाजिक संगठनों और आंदोलनों के साहित्य का उद्देश्य मुद्दों को इस ढंग से पाठक के सामने रखना होता है कि वह सुपाठ्य होने के साथ-साथ मुद्दों की बारीकियों में भी जा सके। हम यह कह सकते हैं कि विश्लेषण का स्तर और भाषा का रूप सरोकार के अनुरूप निर्धारित होता है।

पत्रकारिता, आंदोलनों का साहित्य और अकादमिक जगत— इन तीनों के साहित्य की तुलना की जाए तो हम पाएँगे कि तीनों विमर्शी साहित्य के अलग-अलग रूप हैं; पाठक और लेखन के

---

[13] विजयबहादुर सिंह और योगेंद्र यादव (2003) : 13.

उद्देश्य की लिहाज़ से इन तीनों में कथ्य, कलेवर और शैली का अंतर है। फिर भी अकादमिक जगत का साहित्य बाक़ी दोनों की तुलना में इस मायने में भिन्न है कि वह साहित्य सैद्धांतिक है और व्याख्या व विश्लेषण का धरातल भी वहाँ अलग है। उस लिहाज़ से यदि हम अकादमिक साहित्य और आंदोलनों के साहित्य की तुलना करें तो विश्लेषण के स्तर के अलावा हमें एक और महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है और वह है प्रयुक्ति या विशिष्ट भाषा-प्रयोग का। प्रत्येक औपचारिक-अनौपचारिक कार्यक्षेत्र की अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है चाहे वह खेल हो या ज्योतिष, खेती, कम्प्यूटर, फ़ोटोग्राफ़ी आदि। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र और विषय की शब्दावली और भाषा-प्रयोग में भी अंतर होता है। किसी विषय विशेष के लेखन में जितना ज़्यादा विशिष्ट या तकनीकी शब्दों का प्रयोग होगा, उसकी शैली उतनी ही औपचारिक, भाषा अपेक्षाकृत कठिन और कलेवर जटिल होगा। ज्ञान-मीमांसा की भाषा और पत्रकारिता व आंदोलनों के साहित्य की भाषा में यही मूलभूत फ़र्क़ है। और यह फ़र्क़ होना लाज़िमी है क्योंकि इन सबके अधिकतर पाठक भी अलग-अलग हैं और इन कार्यक्षेत्रों व विषयक्षेत्रों का कथ्य भी मुख़्तलिफ़ है।

अनुवाद की दुश्वारियाँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है इस समय हिंदी में उपलब्ध अधिकांश अकादमिक साहित्य अंग्रेज़ी में उपलब्ध साहित्य का अनुवाद ही है। यदि कोई साहित्य किसी अन्य विदेशी भाषा में उपलब्ध है तो उसका हिंदी संस्करण मिलने की सम्भावनाएँ बहुत क्षीण होती हैं। पर अनूदित पाठ की एक समस्या यह है कि प्राय: अनुवादक मूल पाठ के प्रति वफ़ादारी दिखाते हुए सटीक और शब्दश: अनुवाद करने के मोह में पड़ जाता है। एक ही बात की सहज ढंग से अभिव्यक्ति दो अलग भाषाओं में अलग अंदाज़ में हो सकती है क्योंकि हर भाषा की अपनी लय, अपना मुहावरा होता है। उसकी वाक्य-संरचना और शब्द-संरचना भी अलग होती है। उदाहरण के तौर पर, हिंदी में सामासिक शब्द रचे जाने की परम्परा काफ़ी प्रचलित है। इसी तरह अंग्रेज़ी में संयुक्त वाक्यों का प्रयोग अपेक्षाकृत ज़्यादा होता है। और यहाँ बात सिर्फ़ भाषा की संरचना की ही नहीं है; जब किसी रचना को स्रोत-भाषा (पाठ की मूल भाषा) से लक्ष्य भाषा (जिस भाषा में अनुवाद करना हो) में ढाला जाता है तो उस भाषा के समाज, उसकी संस्कृति और उसके भावबोध का भी ध्यान रखा जाना ज़रूरी है। पर मूल पाठ के प्रति वफ़ादारी दिखाने का दबाव या लक्ष्य-भाषा के अनुरूप पाठ का पुनर्लेखन करने का आत्मविश्वास न जुटा पाना अनुवाद को सरकारी अनुमोदन वाली पारिभाषिक शब्दावली की सीमा में बाँध देता है और ऐसा अनुवाद पाठ की पठनीयता और बोधगम्यता को विचार और भाषा दोनों दृष्टियों से प्रभावित करता है। दरअसल, अच्छा 'अनुवाद मूल कृति का पुनरुत्पादन नहीं, पुनर्रचना' होनी चाहिए और अनुवादक की भूमिका एक अनुशासित 'सह-रचयिता' की होनी चाहिए जो 'मूलकृति के उत्तर-जीवन का निर्माता होता है।'[14] हिंदी में भाषाई शुचिता और मानकता का आग्रह पाठ की पठनीयता घटा देता है और उसे बोझिल बना देता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अकादमिक विमर्श का सार्वजनिक दायरा बनाने में मौखिक विमर्श की महत्त्वपूर्ण भूमिका है पर दुर्भाग्य से विमर्श का यह पक्ष अब तक नज़रअंदाज़ होता रहा है। चूँकि मौखिक संवाद में हमारा लक्ष्य फ़ौरी तौर पर सामने वाले तक अपनी बात पहुँचाना होता है, इसलिए उसकी सम्प्रेषणीयता अधिक होती है। हिंदी के संदर्भ में देखें तो मौखिक संवाद मूलत: रोज़मर्रा की बातचीत के लिए होता है। पर हमारी रोज़मर्रा की भाषा और लिखित विमर्श की भाषा के बीच का

---

[14] अभय कुमार दुबे (2010) : वही.

फ़ासला या अंतर बहुत ज़्यादा है। ऐसे में मौखिक विमर्श अनौपचारिक-औपचारिक के दो चरम छोरों के बीच कड़ी या सेतु का काम करता है। पर ऐसी अकादमिक गोष्ठियों, ऐसे परिसंवादों, सेमिनारों की संख्या काफ़ी कम है जहाँ गम्भीरता और गहराई के साथ विभिन्न अनुशासनों से सम्बद्ध ऐसे कार्यक्रम हिंदी में होते हैं।

भाषागत पूर्वाग्रह और अपेक्षाएँ

चाहे अनुवाद हो या मूल रचना, हिंदी विरोधाभासी विचारधाराओं, पूर्वग्रहों, अपेक्षाओं और असहिष्णुता का शिकार रही है जिसके चलते समाज का कट्टरपंथी वर्ग 'शुद्ध' और 'मानक' हिंदी का प्रयोग किये जाने की अपेक्षा करता है तो अंग्रेज़ी को ही श्रेष्ठ माननेवाला वर्ग उसी शुद्ध हिंदी का हवाला देते हुए हिंदी भाषा के कठिन होने की उलाहना देता है। हिंदी को लेकर समाज के अभिजन, अकादमिक जगत और नीति-निर्माताओं द्वारा शुद्धता का आग्रह, क्लिष्ट की मान्यता, सरल की उपेक्षा और उसके समृद्ध और विकसित न होने का पूर्वाग्रह— इन सब नज़रियों ने परस्पर एक-दूसरे की मान्यताओं को और पुष्ट किया है। उदाहरण के लिए, हिंदी के पक्षधरों ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी को ही परिष्कृत हिंदी माना— उनके इस सोच ने हिंदी के प्रति असहिष्णुता का भाव रखने वालों की इस दलील को पुख़्ता किया कि हिंदी क्लिष्ट होती है।

जब हिंदी की बात आती है तो हम भूल जाते हैं कि मौखिक और लिखित भाषा में हमेशा अंतर होता है। गम्भीर सैद्धांतिक बिंदुओं को बोलचाल की भाषा के माध्यम से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। फिर सवाल यह भी उठता है कि कठिन-सरल का पैमाना क्या है? कठिन-सरल व्यक्ति निरपेक्ष नहीं होता। किसी पाठ की भाषा मुश्किल है या आसान यह पाठक के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभव जगत, उसके पढ़ने के कौशल व आदत और विषयवस्तु से संबंधित उसके पूर्वज्ञान पर भी निर्भर करता है। तीसरी बात, केवल भाषा या पारिभाषिक शब्दावली ही पाठ को दुरूह बनाए यह ज़रूरी नहीं है। यदि पाठ का कथ्य, अवधारणा या विवेचना का बिंदु ही जटिल हो तो उसका आसान भाषा में सरलीकृत ढंग से विश्लेषण या विवेचन नहीं हो सकता।[15] ध्यान देने की बात है कि अंग्रेज़ी भाषा से ऐसी अपेक्षा नहीं की जाती; बल्कि उसकी क्लिष्टता को हम सर-आँखों पर लेते हैं और धैर्य के साथ उससे जूझने का प्रयास करते हैं। लब्बेलुबाब यह कि औपचारिक हिंदी के अलोकप्रिय होने का दारोमदार कहीं-न-कहीं हम पाठकों पर भी जाता है। इसलिए किसी रचना की पठनीयता के प्रश्न को केवल विमर्शी साहित्य और उसके रचयिता के लिहाज़ से ही नहीं, पाठक के लिहाज़ से भी देखना ज़रूरी है।



प्रत्येक औपचारिक-अनौपचारिक कार्यक्षेत्र की अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है चाहे वह खेल हो या ज्योतिष, खेती, कम्प्यूटर, फ़ोटोग्राफ़ी आदि। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र और विषय की शब्दावली और भाषा-प्रयोग में भी अंतर होता है। किसी विषय विशेष के लेखन में जितना ज़्यादा विशिष्ट या तकनीकी शब्दों का प्रयोग होगा, उसकी शैली उतनी ही औपचारिक, भाषा अपेक्षाकृत कठिन और कलेवर जटिल होगा। ज्ञान-मीमांसा की भाषा और पत्रकारिता व आंदोलनों के साहित्य की भाषा में यही मूलभूत फ़र्क़ है।

---

[15] देखें, मुकुल प्रियदर्शिनी (2012 बी) : 19-23.

शिक्षा में हिंदी और हिंदी में शिक्षा

विमर्शी साहित्य का संसार और शिक्षा जगत ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि ऐसे साहित्य का एक बड़ा और सम्भावित पाठक वर्ग उच्च शिक्षा से जुड़े शिक्षक व विद्यार्थी और शोध संस्थानों से जुड़े शोधकर्ता आदि होते हैं। पर क्या 13-14 वर्ष की औपचारिक शिक्षा किसी विद्यार्थी को कुशल पाठक बना पाती है? विश्वविद्यालय के स्तर पर समाजविज्ञान के विभिन्न अनुशासनों/ विषयों में जो कुछ उपलब्ध है क्या वह छात्र-छात्रों के संज्ञानात्मक स्तर के अनुरूप है? इसके उत्तर हम अपनी शिक्षा व्यवस्था में आसानी से ढूँढ़ सकते हैं। भाषा शिक्षा की धुरी होती है। समूची शिक्षा में वह महज़ एक विषय नहीं होती; बल्कि विभिन्न विषयों और उनकी अवधारणाओं को समझने-समझाने का माध्यम, उसका औज़ार भी होती है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में भाषाओं की इस दूसरी भूमिका की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। लोकमानस में और शिक्षा से जुड़े लोगों के बीच भाषा गौण विषय है— ज़्यादा ज़रूरी है विज्ञान और गणित। ज़ाहिर है ऐसा सोच भाषा को गम्भीरता से लेने के रास्ते बंद कर देती है। यही कारण है कि भाषा-शिक्षण में कौशल की बात होती है, क्षमताओं की नहीं। पढ़ना और लिखना क्या है और इन क्षमताओं को कैसे विकसित किया जाए इसके बारे में हमारी सोच, समझ व शिक्षण पद्धतियाँ मौजूदा शैक्षिक विमर्श से बहुत दूर हैं। पढ़ना और लिखना एक-दूसरे के पूरक कर्म है : पढ़ना दुनिया-समाज को जानने-समझने में हमारी मदद करता है और लिखना उस समझ को पैना बनाता है। भाषा इस प्रक्रिया में माध्यम या औज़ार का काम करती है। हम सबके पास कम-से-कम एक भाषाई औज़ार तो होता ही है। यह औज़ार उस व्यक्ति के पास भी होता है जिसने कभी स्कूल का रुख़ न किया हो। सबसे अहम सवाल यह है कि हम जिस भाषा को माध्यम के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं वह किस हद तक हमारे 'मैं' का हिस्सा है? यानी विद्यार्थी भाषा रूपी जिस औज़ार का इस्तेमाल कर रहा है, उस औज़ार या माध्यम के साथ उसका रिश्ता कितना सहज है? उच्च शिक्षा में विफलता के अनेक क़िस्सों की अंतर्कथा भाषाई चुनौतियाँ ही हैं।[16] यथार्थ तो यह है कि 'छात्र-छात्राओं के अवधारणा-जगत और निरंतर बढ़ते हुए ज्ञान-जगत के स्तर के बीच बहुत बड़ी खाई है पर इस खाई को पाटने का उपाय स्थानीय भाषाओं को हाशिये पर धकेल कर अंग्रेज़ी को स्थापित करना नहीं है बल्कि भारतीय भाषाओं को सुदृढ़ करना है।'[17]

यह प्रश्न हमें दूसरे अहम बिंदु की ओर ले जाता है और वह है स्कूल से लेकर कॉलेज तक शिक्षा का माध्यम। भाषा और संस्कृति की बहुलता वाले हमारे देश में माध्यम का मसला सरकारी नीतियों, राजनीति और समाज की मानसिकता से भी जुड़ा है। यों तो राष्ट्र-निर्माण के उद्देश्य के तहत 1973 तक 50 फ़ीसदी स्कूलों में भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा पाने का एक विकल्प उपलब्ध करा दिया गया था और ब्रिटिश शासन ख़त्म होने के बाद धीरे-धीरे सभी स्कूलों में इसे लागू करने की योजना थी, पर आज़ादी के बाद मुदलियार आयोग (1953) आदि शिक्षा संबंधी जितने भी आयोग बने, उन्होंने कॉलेज के स्तर पर शिक्षा का माध्यम बदलने का समर्थन तो किया, पर इस काम के लिए कोई समय-सीमा नहीं निश्चित की। बल्कि उसे यह कहते हुए अस्पष्ट और खुला ही छोड़ दिया गया कि 'व्यावहारिक रूप से जितना जल्दी हो सके, शिक्षा का माध्यम बदल दिया जाएगा।'[18] स्पष्ट समय-सीमा का आदेश न होने की वजह से इस नीति के कार्यान्वयन की बाध्यता और जवाबदेही सरकार की नहीं रही। यह अनिश्चय की स्थिति निश्चित रूप से नीति-निर्धारकों के इरादे और प्रतिबद्धता पर प्रश्न-चिह्न लगाती है। जब कॉलेज के स्तर पर शिक्षा के माध्यम को लेकर नीति-निर्धारण में दुविधा

---

[16] देखें, एन. जयराम (1993) : 93-114; भद्रिराजू कृष्णमूर्ति (1990).; सतीश देशपाण्डे, चारु गुप्ता, रविनंदन सिंह और उज्ज्वल कुमार सिंह (2010).

[17] देखें, तेजस्विनी निरंजना (2013) : 14-19.

[18] देखें, राधाकृष्ण कमीशन (1962).

हो तो वह सेकेंडरी और प्राथमिक स्तर पर भी माध्यम के चयन को प्रभावित करती है। यदि अंग्रेज़ी माध्यम से स्कूली शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा में और आगे के जीवन में भी इसका फ़ायदा मिलता है और इसके बूते अभिजन वर्ग का हिस्सा बनने की सम्भावनाएँ उनके लिए बनती हैं, तो सामाजिक गतिशीलता के इस रास्ते को अपनाने की आकांक्षा सभी में होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप, आज़ादी के बाद का चौथा दशक ख़त्म होते-होते क़िस्म-क़िस्म के अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल तेज़ी से खुलने लगे। धीरे-धीरे स्कूल व शिक्षा के माध्यम का चुनाव और सरकारी व निजी स्कूलों की श्रेणियाँ सामाजिक वर्ग-विभाजन का कारक बनती गयीं। आज आलम यह है कि सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले और उच्च शिक्षा में हिंदी माध्यम चुनने वाले विद्यार्थी आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग से आते हैं। सबसे बड़ा नुक़सान यह हुआ है कि अंग्रेज़ी भाषा में निपुण होने का दबाव विद्यार्थियों को अपने परिवेश की भाषाओं से भी दूर ले गया है। पर अंग्रेज़ी का दबाव और उसके प्रति मोह सारी हिंदी-पट्टी में एक-सा नहीं है। जैसे-जैसे हम दिल्ली-जैसे महानगर से बाहर के प्रदेशों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे लोगों पर अंग्रेज़ी का दबाव और हिंदी और अन्य स्थानीय भाषाओं से परहेज़ की मानसिकता कम होती जाती है। इसका प्रभाव सीधे-सीधे लोगों के भाषाई व्यवहार पर दिखाई देता है : अधिक-से-अधिक लोगों में हिंदी और अन्य स्थानीय भाषाओं को सहजता से बरतने का आत्मविश्वास नज़र आता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषाओं पर लोगों की पकड़ न होने का दोष हम अंग्रेज़ी पर मढ़ें।

शिक्षा के बिंदु का दूसरा पहलू यह है कि हिंदी में अकादमिक विमर्श की शोचनीय दशा से शैक्षिक सामग्री की गुणवत्ता और भाषा भी काफ़ी प्रभावित हुई है। हिंदी में विभिन्न विषयों की जो पठन-सामग्री उपलब्ध है वह अधिकांशत: खराब गुणवत्ता की पाठ्य पुस्तकें और सहायक गाइड ही हैं। कार्यालयी हिंदी की तरह इन पुस्तकों की भाषा भी कृत्रिम और बोझिल होती है और इनमें भी काफ़ी हद तक वही भाषाई ख़ामियाँ होती हैं। इस संदर्भ में हिंदी क्षेत्र के छह प्रमुख विश्वविद्यालयों में इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में उपलब्ध पठन-सामग्री का सर्वेक्षण हमें बताता है कि कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो मोटे तौर पर अधिकांश किताबों में विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव है।[19] अधिकांश किताबें विद्यार्थियों को सूक्ष्म दृष्टि से सोचने और किसी मुद्दे को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने के लिए प्रोत्साहित करने की बजाय जानकारी देने पर केंद्रित होती हैं। ख़राब भाषा, सरलीकृत व्याख्या, प्रामाणिक जानकारी का अभाव, तथ्यात्मक ग़लतियों का होना और संदर्भ-सूची का न होना— सामान्य तौर पर विश्लेषित पुस्तकों में ये कमियाँ पाई गयीं। जो किताबें थोड़ी बेहतर हैं उनका संदर्भ स्थानीय या भारतीय होता है। उदाहरण के लिए, भारतीय इतिहास या भारतीय राजनीति की किताबें। इस शोध में शामिल की गयी विभिन्न प्रकार की पठन-सामग्री के इस सर्वेक्षण से निष्कर्ष तो यही निकलता है कि हम युवा पाठक वर्ग के लिए हिंदी में स्तरीय, सुपाठ्य सामग्री मुहैया नहीं करा पा रहे हैं जोकि छात्र का मूलभूत हक़ है और अकादमिक समाज का उनके प्रति कर्तव्य।

अंग्रेज़ी का साम्राज्य

इस सारे भाषाई परिदृश्य के पीछे एक ताक़त जो निरंतर काम करती रही है, वह है अंग्रेज़ी का वर्चस्व। यदि हम ध्यान दें तो ऊपर जिन बिंदुओं का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी का भी विश्लेषण अंग्रेज़ी की चर्चा के बिना अधूरा है। भारत के संदर्भ में देखें तो उपनिवेशवाद से उदारतावाद में प्रवेश करने में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ अंग्रेज़ी को अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उर्वर भूमि उपलब्ध कराती रहीं। उपनिवेशवाद के लम्बे दौर से गुज़रा भारत भाषाई विचारधाराओं से उपजी अपनी गुत्थियों को सुलझा भी नहीं पाया था कि भूमण्डलीकरण और नव-उदारतावाद अपने

[19] देखें, सतीश देशपाण्डे वग़ैरह (2010) : वही.

पैर पसारने लगे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, पिछली सदी के आठवें दशक में जन-भाषाओं में पत्रकारिता का विस्तार भले ही हुआ हो पर उनका मुहावरा, उनका चरित्र उदारीकरण के भाषाई प्रभावों से बच न सका। चूँकि भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के दौर की वाहक अंग्रेज़ी भाषा थी, इसलिए उसने विज्ञापनतंत्र के माध्यम से सबसे पहले दिल्ली (और कालांतर में दूसरे बड़े शहरों) के भाषाई चरित्र को प्रभावित करना शुरू किया। पाठकों और दर्शकों के बीच उत्पादों के प्रचार के उद्देश्य से उनसे मुख़ातिब होने के लिए अख़बार-पत्रिकाएँ और टेलीविज़न मुफ़ीद माध्यम होता है। भारतीय मीडिया बाज़ार में विदेशी निवेश और टेलीविज़न के विस्तार ने बाज़ार के इस लक्ष्य को पाने में मदद की। इस प्रक्रिया में परोक्ष रूप से भारतीय भाषाओं में छपने वाले अख़बारों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। चूँकि स्थानीय हिंदी अख़बार स्थानीय मुद्दों को उठा रहे थे और इसके माध्यम से लोगों के जीवन को छू रहे थे, इसलिए ग्रामीण पाठकों की संख्या भी इस दौर में बढ़ी।[20] दूसरी ओर सेटेलाइट, इंटरनेट, मोबाइल आदि का आविर्भाव और फैलाव हुआ। बाज़ार और विज्ञापन के इस तंत्र की परिणति नये मध्यम वर्ग के उदय में हुई। विज्ञापनों में चित्रित सुविधा-सम्पन्न वर्ग, उसकी जीवन-शैली और, उसकी भाषा— सभी कुछ इतना मोहक था कि पाठकों और दर्शकों के लिए वह अभीष्ट और अनुकरणीय हो गया। छवियों और बिम्बों के ज़रिये रचे गये इस संसार का मूल पश्चिम में था, उत्पाद पश्चिम में ईज़ाद हुए थे और कारोबार की भाषा अंग्रेज़ी थी। इंटरनेट, मोबाइल आदि की सुलभ भाषा भी अंग्रेज़ी ही थी। यों भी 'पश्चिम' की संकल्पना हमारे यहाँ प्राय: अंग्रेज़ी भाषा के साथ जुड़ी होती है। बाज़ार का मक़सद अंग्रेज़ी जानने वाले उपभोक्ता और हिंदी व अन्य स्थानीय भाषाएँ जानने वाले उपभोक्ता, दोनों को ही लुभाने का था। बाज़ार के इस मक़सद ने अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी को जन्म दिया जिसकी मूल वाक्य-संरचना हिंदी की थी। अंग्रेज़ी मिश्रित हिंदी पर अपनी टिप्पणी में स्नेल कहते हैं :

> (अंग्रेज़ी ने) हिंदी की नैसर्गिक सटीकता और लालित्य को नष्ट कर दिया है और उसके अपने शब्द-भण्डार को अपने ही इलाक़े में अबूझ, बेगाना और रूखा बना दिया है ...(भाषा पर) बाहरी प्रभाव एक सीमा तक तो उसे समृद्ध बनाता है पर जब आयातित शब्द भाषा की स्थानीयता को विस्थापित कर देते हैं तो उसका पारिवेशिक/पारिस्थितिक संतुलन ख़तरे में पड़ने लगता है।[21]

दिल्ली शहर में अंकुरित हुई इस हिंग्लिश ने धीरे-धीरे विभिन्न मीडिया माध्यमों के ज़रिये हिंदी-पट्टी के दूसरे महानगरों में भी पैर पसार लिए हैं। फिर भी त्वरित 'विकास' के घेरे में आये बड़े शहरों को छोड़ दिया जाए तो हिंदी-पट्टी के क़स्बों व आंतरिक इलाक़ों में स्थानीय भाषाओं की जड़ें वहाँ के जन-मानस और जन-संस्कृति में अभी भी गहरी है : हिंग्लिश न तो वहाँ के भाषाई जगत का हिस्सा हो पाई है और न ही लोगों की ज़ुबान का। इतिहास बताता है कि सत्ता का केंद्र जिस प्रदेश में होता है वह क्षेत्र भाषाई राजनीति की प्रयोगशाला भी हो जाता है। हिंदी-पट्टी के संदर्भ में देखें तो मौजूदा वक़्त में उपर्युक्त बिंदु दिल्ली के समाज व भाषाई जगत के वर्चस्व की ओर संकेत करता है। उपनिवेशवाद, भूमण्डलीकरण और उदारवाद की पृष्ठभूमि ने हमारे मानस को ऐसे अपनी गिरफ़्त में ले लिया है[22] कि आज अंग्रेज़ी सम्भावनाओं और रोज़गार की भाषा होने के साथ-साथ वर्ग-भेद की भाषा भी बन गयी है। दिलचस्प बात यह है कि आज़ादी के बाद के चार दशकों में समाज में भाषाई विभाजन और विषमता उतने मुखर नहीं थे जितने पिछले दो-ढाई दशकों में हो गये हैं, पर वर्तमान नव-उदारतावाद के दौर में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से बाक़ी विश्व भी अछूता नहीं रहा।[23] अंग्रेज़ी की 'प्रतीकात्मक सत्ता' की बात बोर्द्यू भी करते हैं।[24] किसी भी क़िस्म का आधिपत्य जमाने के लिए भाषा

---

[20] देखें, सेवंती नाइनन (2007) : वही.

[21] रूपर्ट स्नेल (2011) : 23.

[22] रमेश उपाध्याय (2008). ; डेविड सिंह ग्रेवाल (2009).

[23] देखें, रूपर्ट स्नेल (2011) : 22-36.

अचूक औज़ार होती है। उपनिवेशवाद के इतिहास को देखें तो अंग्रेज़ी-भाषी देशों का साम्राज्यवाद लम्बे समय तक चला है। मौजूदा भाषाई साम्राज्यवाद भी उसी कड़ी का हिस्सा है। अकादमिक जगत, वैज्ञानिक शोध, प्रौद्योगिकी आदि कई क्षेत्र अंग्रेज़ी महाशक्ति के लपेटे में आ गये हैं। आज अंग्रेज़ी विश्व की सबसे ज़्यादा पढ़ी जाने वाली दूसरी भाषा है और शोध व विकास पर ख़र्च होने वाला दुनिया का 50 फ़ीसदी बजट अमरीका का होता है।[25] दूसरी ओर हम इस यथार्थ से भी मुँह नहीं मोड़ सकते कि साम्राज्यवाद में भागीदारी अकेले सत्ताधारी की नहीं होती।

> प्रतीकात्मक सत्ता में शासितों की सक्रिय सहभागिता अंतर्निहित है। जिन पर आधिपत्य जमाया जाता है, वे निष्क्रिय कार्य नहीं हैं जिस पर प्रतीकात्मक सत्ता का इस्तेमाल किया जाए जैसे किसी शव पर डॉक्टर की छुरी। बल्कि प्रतीकात्मक सत्ता की सफलता की एक शर्त यह है कि जो सत्ता के अधीन हैं, वे मानते हैं कि यह सत्ता वैध है और उस सत्ता को बरतने वाले भी वैध हैं।[26]

अंत में

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बांग्ला में विचार-साहित्य रच रहे विद्वानों की बात करते हुए पार्थ चटर्जी कहते हैं :

> उनके सोच-विचार पर आधुनिक पश्चिमी चिंतन की उस समय प्रचलित धाराओं का काफ़ी प्रभाव था ...लेकिन भारतीय संदर्भ में इन विचारों और सिद्धांतों के बारे में चर्चा करने के लिए उन्हें एक नयी भाषा रचने की ज़रूरत थी ...ये लोग एक नयी भाषा गढ़ने में मौलिकता और सफलता इसलिए हासिल कर पाए कि ...एक नये सार्वजनिक जीवन का निर्माण हो रहा था। उससे निकलने वाले सवालों और आलोचनाओं पर प्रतिक्रिया करते हुए उन्हें अपने विचारों को जनता तक पहुँचाना था। उन्हें नये-नये तरीक़े अख़्तियार करने थे और मौलिकता क़ायम रखनी थी। ऐसा करते हुए उन्होंने एक ऐसा विचार साहित्य रचा जो आधुनिक पश्चिम साहित्य की नकल तो नहीं ही था, उसका अनुवाद भी नहीं था। वह तो एक नयी और मौलिक रचना ही थी।[27]

आज हिंदी में ऐसा ही विचार-साहित्य रचे जाने की ज़रूरत है लेकिन इसके लिए कम-से-कम द्विभाषी होना अनिवार्य शर्त है। पर यह काम केवल हिंदी के प्रयोग का आग्रह करने से नहीं हो सकता। ज़रूरत अंग्रेज़ी को नकारने की नहीं, उसके वर्चस्व को नकारने की है। अंग्रेज़ी का जो 'सामाजिक रंग-रुतबा' बना हुआ है, उसे चुनौती देना ज़रूरी है। साथ ही हमें अंग्रेज़ी के समानांतर हिंदी का सार्वजनिक अकादमिक दायरा बनाने-बढ़ाने में ख़ुद भागीदार होना होगा।



हिंदी क्षेत्र के छह प्रमुख विश्वविद्यालयों में इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में उपलब्ध पठन-सामग्री का सर्वेक्षण हमें बताता है कि कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो मोटे तौर पर अधिकांश किताबों में विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव है। अधिकांश किताबें विद्यार्थियों को सूक्ष्म दृष्टि से सोचने और किसी मुद्दे को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने के लिए प्रोत्साहित करने की बजाय जानकारी देने पर केंद्रित होती हैं। ख़राब भाषा, सरलीकृत व्याख्या, प्रामाणिक जानकारी का अभाव, तथ्यात्मक ग़लतियों का होना और संदर्भ-सूची का न होना— सामान्य तौर पर विश्लेषित पुस्तकों में ये कमियाँ पाई गयीं।

---

[24] पियर बोर्द्यू (1991).

[25] फ़िलिप जी. ऑल्टबाक (2007) : 3608-11.

[26] देखें, जॉन बी. थॉमसन (सं.) (1991).

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2010), 'अनुवाद का उत्तर-जीवन', *सामयिक वार्ता* (ज्ञान का स्वराज विशेषांक), 34 (5-6).

ई. अन्नामलाई (2005), 'नेशन बिल्डिंग इन अ ग्लोबलाइज़्ड वर्ल्ड : लैंग्वेज चॉयस ऐंड एजुकेशन इन इण्डिया', एम.वाई. एंजिल और पीटर डब्ल्यू मार्टिन (सं.), *डिकोलोनाइज़ेशन, ग्लोबलाइज़ेशन : लैंग्वेज-इन-एजुकेशन— पॉलिसी ऐंड प्रैक्टिस,* मल्टीलिंगुअल मैटर्स लि., टोरंटो.

एन. जयराम (1993), 'द लैंग्वेज क्वेश्चन इन हायर एजुकेशन : ट्रेंड्स ऐंड इशूज़', *हायर एजुकेशन,* खण्ड 26, अंक 1.

एनैलिसिस ऑफ़ पॉपुलर टेक्स्ट बुक्स इन सिक्स नॉर्थ इण्डियन युनिवर्सिटीज़'. http://cscs.res.in/dataarchive/textfiles /social-science-teaching-in-india.inventory-and-analysis-of-current-curricular.pdf (23 जनवरी, 2017)

एम.ए. के. हैलिडे (1975), *लर्निंग हाउ टू मीन,* एडवर्ड अर्नोल्ड, लंदन.

कृष्ण कुमार (2015), 'राज, समाज और भाषा', *आलोचना त्रैमासिक,* 53, मार्च.

डेविड सिंह ग्रेवाल (2009), *नेटवर्क पॉवर : द सोशल डायनैमिक्स ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

तेजस्विनी निरंजना (2013), 'इण्डियन लेंग्वेजिज़ इन हायर एजुकेशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 12.

पियर बोर्द्यू (1991), *लैंग्वेज ऐंड सिम्बोलिक पॉवर,* जॉन बी. थॉमसन (सं.), (अनु.) जीनो रेमंड और मैथ्यू एडम्सन, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

फ़िलिप जी. ऑल्टबाक (2007), 'द इम्पीरियल टंग : इंग्लिश ऐज़ द डॉमिनेटिंग एकेडमिक लैंग्वेज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 42, अंक 36.

भद्रिराजू कृष्णमूर्ति (1990), 'रीजनल लैंग्वेज विज़ा विज़ इंग्लिश एज़ द मीडियम ऑफ़ इंस्ट्रक्शन इन हायर एजुकेशन— द इण्डियन डिलेमा', देबी प्रसन्न पटनायक (सं.), *मल्टीलिंगुअलिज़्म इन इण्डिया,* मल्टीलिंगुअल मैटर्स, क्लीवलैण्ड, ओहायो, यूएसए.

मुकुल प्रियदर्शिनी (2012), 'दायरों का संकट', *आउटलुक,* नवम्बर.

----------- (2012बी), 'एंग्लिसाइज़ेशन ऑफ़ हिंदी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 47, अंक 12.

मुदालियर आयोग (1952), *रिपोर्ट ऑफ़ द सेकेंडरी एजुकेशन कमीशन* (अक्तूबर 1952- जून 1953), शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार.

रमेश उपाध्याय (2008), 'भाषायी साम्राज्यवाद की चुनौती', रमेश उपाध्याय व संज्ञा उपाध्याय (सं.), *भाषा और भूमण्डलीकरण,* शब्दसंधान प्रकाशन, नयी दिल्ली.

राधाकृष्ण कमीशन (1962), द *रिपोर्ट ऑफ़ द युनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन (दिसम्बर, 1948-अगस्त, 1949),* खण्ड 1, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार.

रॉबिन जैफ्री (1997), 'हिंदी : टेकिंग द पंजाब केसरी लाइन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 5-6.

रूपर्ट स्नेल (2011), 'हिंदी : इट्स थ्रेटेंड इकॉलॅजी ऐंड नेचुरल जीनियस', रीता कोठारी तथा रूपर्ट स्नेल (सं.), *चटनीफ़ाइंग इंग्लिश : द फ़ेनोमेना ऑफ़ हिंग्लिश,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

लिन एंजिल और पीटर डब्ल्यू. मार्टिन (सं.), *डिकोलोनाइज़ेशन, ग्लोबलाइज़ेशन : लैंग्वेज-इन-एजुकेशन, पॉलिसी ऐंड प्रेक्टिस, न्यू पर्सपेक्टिव्ज़ इन लैंग्वेज ऐंड एजुकेशन,* मल्टीलिंगुअल मैटर्स लि., बफ़ैलो, टोरोंटो.

विजयबहादुर सिंह और योगेंद्र यादव (2003), 'भारतीय समाजशास्त्र की खोज', अभय कुमार दुबे (सं.), *भारत का भूमण्डलीकरण,* वाणी प्रकाशन-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

विभास वर्मा (सं.) (2012), *हंस के विमर्श,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली .

सतीश देशपाण्डे, चारु गुप्ता, रविनंदन सिंह और उज्ज्वल कुमार सिंह (2010), *सोशल साइंस टीचिंग इन हिंदी : ऐन इन्वेंटरी ऐंड एनैलिसिस ऑफ़ करेंट करीकुलर मैटेरियल्स एट सिक्स नॉर्थ इंडियन युनिवर्सिटीज़,* प्रोजेक्ट रिपोर्ट, रतन टाटा ट्रस्ट, मुंबई.

सेवंती नाइनन (2007), *हेडलाइंस फ़्रॉम द हार्टलैण्ड : रिइन्वेंटिंग द हिंदी पब्लिक स्फ़ीयर,* सेज इण्डिया, नयी दिल्ली.

नवभारत टाइम्स, 19 दिसम्बर, 2006.